Volume: 3 Issue: 12 Pages: 55-58

हिन्दी उपन्यासों में संघर्ष का बदलता स्वरूप

[*1] शैलेंद्र कुमार सिंह

[*1] शोधार्थी (पीएच.डी.), हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, भारत।

Article Info.
E-ISSN: 2583-6528
Impact Factor (SJIF): 6.876
Peer Reviewed Journal
Available online:
www.alladvancejournal.com

Received: 18/Nov/2024
Accepted: 16/Dec/2024

***Corresponding Author**
शैलेंद्र कुमार सिंह
शोधार्थी (पीएच.डी.), हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, भारत।

सारांश:
हिन्दी उपन्यास अपने आरंभ से लेकर वर्तमान तक कई प्रभावों को ग्रहण करता हुआ लगातार विकसित हुआ है। आरंभ में यह आदर्श, शिक्षा, नैतिकता और समाजिकता जैसे विषयों को लेकर चला। इन उपन्यासों में वर्णित संघर्ष भी इसी स्वरूप में अभिव्यक्त हुआ है। आगे चलकर यह औपनिवेशिक और कृषक संघर्षों की विस्तृत गाथा से जुड़ता है जहाँ हिन्दी उपन्यासों का लेखन भी सशक्त दिखाई देता है। हिन्दी उपन्यास आगे चलकर व्यक्ति के आंतरिक संघर्षों को भी दर्ज करता है। आज़ादी के बाद विभाजन की त्रासदी, राजनीतिक, स्वतन्त्रता से मोहभंग, मशीनीकरण, शहरीकरण, और ग्रामीण अंचल के परिप्रेक्ष्य में वर्णित होता है। बीसवीं सदी के अंत तक यह असमितमूलक संघर्षों को व्यापक अभिव्यक्ति देता है। इक्कीसवीं सदी के साथ यह बाजारवाद, पॉपुलर कल्चर, उपभोक्तावाद, सूचनाक्रांति, आर्थिक सत्ता प्रतिष्ठानों आदि से संघर्ष करता नजर आता है।

मुख्य शब्द: औपनिवेशिक, बाजारवाद, पॉपुलर कल्चर, उपभोक्तावाद, सूचनाक्रांति, सांप्रदायिकता, मनोवैज्ञानिक, सांस्कृतिक आदि।

प्रस्तावना:

हिन्दी उपन्यासों का भारत में आगमन उस समय होता जब भारत औपनिवेशिक जंजीरों को तोड़ने का प्रयास कर रहा था। अपने आरंभिक दौर में हिन्दी उपन्यास के लिए यह व्यवहारिक नहीं था कि तत्काल प्रभाव से राष्ट्रीय संघर्ष को आवाज़ दे। आरंभिक हिन्दी उपन्यास अपने पैर जमाने के लिए नैतिकता, आदर्शवाद और शिक्षाप्रद कथाओं की शरण लेता है। इस दौर का हिन्दी उपन्यास राष्ट्रीय कम बल्कि सामाजिक समस्याओं को आधार बनाकर नैतिकता व आदर्श आदि की बात करता है। आगे बढ़ते हुए जासूसी, अय्यारी, तिलिस्मी व रहस्यात्मक विषयों पर आधारित उपन्यासों का प्रचलन देखने को मिलता है। कथात्मक दृष्टि से भले ही उनका हिन्दी उपन्यास में अतुलनीय योगदान न रहा हो परंतु उपन्यास परंपरा को मजबूत आधार प्रदान करता है। प्रेमचंद से पूर्व यह ऐतिहासिक और कुछ हद तक राष्ट्रीय मुद्दों पर बात करने लगा। प्रेमचंद युगीन उपन्यासों से हिन्दी उपन्यास वर्ण्य विषय, भाषा शैली दोनों दृष्टि से स्थापित हो जाता है। प्रेमचंद युग और उसके बाद समय की आवश्यकता देख लेखक तत्कालीन समस्याओं और उनसे संबन्धित समाज और राष्ट्र के संघर्ष को लक्षित करने लगे।

संघर्ष किसी व्यक्ति या समूह या समाज या सत्ता की इच्छा/निर्णय/विचार आदि का विरोध करने के लिए बलपूर्वक किया गया विचारात्मक प्रयत्न है। कई बार यह अन्याय या अनीति के खिलाफ अपनी उपस्थिति दर्ज कराता है तो कई बार सामूहिक हितों के लिए, कई बार अपनी पहचान, संस्कृति, अस्मिता की रक्षा के लिए तो कई बार एकाधिकार या किसी प्रभुत्त्व को नकारने के लिए, कई बार भावी संकटों को रोकने के लिए तो कई बार सत्ता से समस्या-समाधान की माँग के लिए संघर्ष अपने रूपों में नजर आता है। वहीं कई बार यह इसके बिलकुल विपरीत होते हुए हिंसा का रास्ता अपना लेता है।

संघर्ष समाज व्यवस्था से संघर्ष करते हुए बदलावों को ग्रहण करता है। उदाहरण के तौर पर बाल विवाह, बहु विवाह, सती प्रथा, अस्पृश्यता, विधवा पुनर्विवाह, स्त्री शिक्षा और अधिकार, मनुष्य के तौर पर समान कानूनी अधिकार न होना, अंधविश्वास आदि सभी के लिए समाज संघर्ष करके ही आगे बढ़ा है। इसके लिए राजाराम मोहन राय, आचार्य विनोबा भावे, ज्योतिबा फूले, ईश्वरचंद विद्यासागर, स्वामी दयानन्द सरस्वती, सावित्री बाई फूले, सर सय्यद अहमद खाँ, भगिनी निवेदिता, पंडित रमाबाई सरस्वती और एनी बेसेंट जैसे दूरद्रष्टाओं, पथप्रदर्शकों और नेतृत्त्व करने वालों की जरूरत पड़ी। आज यह जन-अधिकारों के संदर्भ में व्यक्ति, परिवार, समाज और राष्ट्र की बेहतरी के सकारात्मक पहलू की बात करता है। हिंदी साहित्य में गद्य का प्रचलन और आधुनिकता का आगमन लगभग

एक साथ देखा जा सकता है। इस आधुनिक चेतना की सृजनात्मक अभिव्यक्ति तत्कालीन निबंधों और उपन्यासों में ज्यादा नजर आती है। अपने आरंभ से लेकर आज तक हिन्दी उपन्यास सामाजिक समस्याओं को अत्यधिक व्यापकता और गहनता से दर्ज कराता रहा है। इक्कीसवीं सदी का समाज वैश्वीकरण, बाजारवाद, उपभोक्तावाद, सूचना क्रांति, पूँजीवाद से संघर्ष कर रहा है। एक तरफ इनके फायदे हैं तो वहीं दूसरी तरफ नई-नई समस्याओं को हमारे सामने लाकर रख दिया है। इक्कीसवीं सदी का उपन्यास इन दोनों पहलुओं को दर्ज करता है। 1857 का स्वतंत्रता संग्राम भारतीय नवजागरण के रूप में भी जाना जाता है। अपेक्षित सफलता न मिलने से भारतीय जनता में पराजित मानसिकता, हताशा और नैराश्य का भाव देखने को मिला। यह वही समय था जब भारत में समाज-सुधार आंदोलन भी अपने चरम पर थे। ऐसे दौर में भारतेंदु अभी कविताओं और नाटकों के माध्यम से भारतीय जनता को जगाने का प्रयास कर रहे थे। इसके लिए अतीत गौरव गान, अन्य देश के नागरिकों से भारतीय संकृति की बड़ाई व अन्य माध्यमों से न सिर्फ जनता बल्कि लेखकीय परिष्कार भी कर रहे थे, जिसका असर हमें आगे चलकर हिन्दी उपन्यासों पर भी देखने को मिलता है।

हिंदी पट्टी में नवजागरण की शुरूआत बंगाल और महाराष्ट्र के बाद में नजर आती है। हिंदी उपन्यास का लेखन भी बंगाली और मराठी उपन्यासों की अपेक्षा बाद में आरंभ हुआ। 1875 में आर्य समाज की स्थापना के आसपास हिंदी साहित्य में ईश्वरी प्रसाद और कल्याण राय लिखित 'वामा शिक्षक' (1872), श्रद्धाराम फिल्लोरी लिखित 'भाग्यवती' (1877), राधाकृष्ण दास लिखित 'निस्सहाय हिंदू' (1881), लाला श्रीनिवास दास कृत 'परीक्षा गुरू' (1882) जैसी रचनाएँ सामने आती हैं। इसी दौर में बालकृष्ण भट्ट द्वारा रचित 'नूतन ब्रह्मचारी' (1886) और 'सौ अजान, एक सुजान' जैसे उपन्यास भारतीय आदर्शों और परंपरा को प्रतिष्ठित करते नजर आए। 1857 की क्रांति के बाद भी हिंदी उपन्यास अभी आदर्शों, रोमांच, रहस्य, तिलिस्मी, जासूसी जैसे बिंदुओं पर टिके हुए थे, उनमें बड़े स्तर पर राष्ट्रीय चेतना अभी स्पष्टतः नजर नहीं आ रही थी। हाँ, इस दौर में समाज में फैली कुरीतियों पर जरूर हिंदी उपन्यासों का लेखन देखने को मिला।

लज्जाराम शर्मा एक ओर 'आदर्श दम्पति' (1904) में महिला की सामाजिक असुरक्षा का चित्रण किया करते हैं, वहीं 'सुशीला विधवा' (1907) में एक विधवा की उस दयनीय स्थिति का वर्णन करते हैं जिसे भारतीय समाज उसकी नियति मान चुका है। यहाँ सामाजिक जीवन और व्यक्तिगत जीवन का संघर्ष स्त्री-समुदाय के परिप्रेक्ष्य में दिखाया गया है। रूढ़िगत भारतीय समाज स्त्री शिक्षा और अधिकारों के प्रति उदासीन रहा है। 'आदर्श हिंदू' (1915) के जरिए वे अप्रभावी सुधारवादी कार्यक्रमों पर प्रहार करते नजर आते हैं। इसी उपन्यास में वह धार्मिक कर्मकांड व पाखंड पर भी प्रहार करते हैं।

गोवध की समस्या को केन्द्र में रखकर लिखा गया उपन्यास 'निस्सहाय हिंदू' सांप्रदायिक सद्भाव की बात भी करता है। भारतेंदु हरिश्चंद्र, जो धर्म और जाति से परे राष्ट्रवाद और देश की एकता के पक्षधर रहे हैं, वे इस उपन्यास की प्रेरणात्मक भूमिका में नजर आते हैं। इस उपन्यास में वर्तमान की भाँति धार्मिक उत्तेजना या आक्रोश नहीं है बल्कि गोवध को रोकने के लिए उपन्यास के नायक मदनमोहन की मदद उसका मुस्लिम मित्र अब्दुल अजीज करता है। इस उपन्यास के नायक और उसके मुस्लिम दोस्त दोनों को अपने प्राणों की बलि देनी पड़ती है। यहीं मेहता लज्जाराम सांप्रदायिक सद्भाव की वह आधारभूमि तैयार करते हैं जिसकी आवश्यकता आजादी के आंदोलन, विभाजन के समय और उसके बाद भी नजर आती है।

भारतेंदु युगीन उपन्यासकारों में ब्रिटिश राज के प्रति सहयोग और अपनी सांस्कृतिक विरासत के बीच एक अंर्तद्वंद्व भी नजर आता है जहाँ वे अंग्रेजों के ज्ञान-विज्ञान और तार्किकता के पक्ष में नजर आते हैं तो वहीं भारतीय पराधीनता के प्रति आवाज भी उठाते नजर आते हैं। हालाँकि स्वतन्त्रता का यह बंगाली उपन्यासों में वर्णित संघर्ष तीव्र विद्रोह के तेवर में अपेक्षाकृत कम दिखाई देता है। दूसरी तरफ इस युग के ऐतिहासिक उपन्यास राजपूत-मुग़ल संघर्षों को कहीं अधिक मुखरता से व्यक्त करते हैं। किशोरीलाल गोस्वामी के उपन्यासों का समय तेरहवीं सदी से अट्ठारहवीं सदी का है। इस कालखंड में मुसलमानों के प्रति एक कटुता का भाव था, जो राजपूत और मुग़ल संघर्षों में नजर आता है। बकौल मधुरेश, "मध्यकाल का इतिहास लिखने वाले भी, गोस्वामी जी का विचार था, अधिकतर मुसलमान थे, अतः उन उपलब्ध स्त्रोतों को वो शंका और संदेह की दृष्टि से देखते हैं।" [1] हालाँकि यह संघर्ष सांप्रदायिक कम और इस्लामी संस्कृति और राजपूतों के रूप में हिन्दू संस्कृति के बीच सांस्कृतिक संघर्ष के रूप में अधिक जाना जाता है। मुस्लिम लीग और हिन्दू महासभा की स्थापना के बाद राजनीतिक स्वार्थों के जुड़ते ही यह सांप्रदायिकता का वीभत्स रूप धारण कर लेता है जो विभाजन के बाद हिन्दी उपन्यासों में अधिक मुखरता से दिखता है।

गोपाल राय प्रेमचंद पूर्व युगीन उपन्यासों के बारे में अपने विचार प्रकट करते हुए लिखते हैं, "इस काल के उपन्यासों में जिस समाज का अंकन हुआ है, वह उच्च मध्यमवर्गीय समाज है। समाज का निचला वर्ग, यहाँ तक कि निम्न और सामान्य मध्य वर्ग भी, इनमें अनुपस्थित है।" [2] इसके पीछे गोपाल राय का यही मानना है कि इस दौर में भारत ब्रिटिश उपनिवेशवाद से तड़पड़ा रहा होता है, जिसकी भाषा अंग्रेजी है। इस दौर में हिंदी बहुत कम भारतीयों की भाषा थी। ऐसे में वस्तुतः लेखक उच्च या उच्च मध्य वर्ग के थे और अपनी-अपनी समझ से राष्ट्र की तलाश का प्रयत्न कर रहे थे। हालाँकि गोपाल राय यह लिखते हैं कि, "बंगाल से चली नवजागरण की धारा सातवें दशक में हिंदी क्षेत्र को भी स्पर्श करने लगी थी और गिनती के प्रबुद्ध लोगों ने भारतीय समाज के जागरण का अलख जगाना शुरू किया।" [3]

प्रेमचंद के समय में भी लगभग वही पृष्ठभूमि थी लेकिन जो अंतर था वह यह कि साहित्य राष्ट्रीय संघर्ष को प्रमुखता से विषय बनाने लगा। दूसरी तरफ महावीर प्रसाद द्विवेदी और प्रेमचंद जैसे साहित्यकारों ने रचनाकारों का रुचि परिष्कार भी किया। जिसका असर हिन्दी उपन्यासों पर भी देखने को मिलता है। प्रेमचंद युगीन उपन्यासों में सामाजिक और कृषक सरोकारों से जुड़े उपन्यास लिखे जाते हैं। यहाँ किसान, मजदूर, सामाजिक दृष्टिकोण से तथाकथित निम्न वर्ग, निम्न मध्य वर्ग और उनके जीवन संघर्ष हिन्दी उपन्यासों के विषय बनते हैं। प्रेमचंद ने भी उस स्वराज की कल्पना की, जिसमें वे देश की राजनीतिक स्वतंत्रता के साथ-साथ भारतीय समाज में व्याप्त सांस्कृतिक और सामाजिक पराधीनताओं से भी जनता की मुक्ति चाहते हैं। प्रेमचंद की दृष्टि इतनी व्यापक थी कि वे न केवल उपनिवेशवाद बल्कि देशी सामंतवाद और उभरते हुए पूंजीवाद के शोषण से भी आम जनता को मुक्ति दिलाना चाहते थे। प्रेमचंद लिखते हैं- "हमारी लड़ाई केवल अंग्रेज सत्ताधारियों से नहीं है, हिंदुस्तानी सत्ताधारियों से भी है।" [4]

प्रेमचंद जानते थे कि सत्ता का शोषणवादी रूप चलता रहेगा। जबतक जनता को जागरूक कर उनके अधिकारों के प्रश्न नहीं उठाए जाएँगे, और उन्हें संघर्ष के लिए प्रेरित नहीं किया गया, तो ऐसे में मिलने वाली आजादी भारतीयों के लिए अधूरी रह जाएगी। इसलिए प्रेमचंद के उपन्यासों में गरीब किसानों, मजदूरों, स्त्रियों और दलितों के व्यापक जागरण, आंदोलन, दमन और प्रतिरोध का समूचा चित्र दिखाई देगा। किसान जीवन का महाकाव्य कहा जाने वाला उपन्यास 'गोदान' होरी के जीवन की त्रासदी 'गाय' और 'जमीन' तथा 'कर्ज़' के बीच झूलती दिखाते हैं। गहन संदर्भों में देखें तो औपनिवेशिक मानसिकता से ग्रसित भारतीय महाजन और साहूकारों से होरी, गोबर, धनिया का संघर्ष वर्णित है। होरी 'कृषक मरजाद की अपनी अधूरी इच्छाओं' के साथ औपनिवेशिक और भारतीय सामंतवाद का शिकार हो जाता है। कर्मभूमि में शांतिकुमार के छोटे और बड़े

किसानों की बात का जवाब देते हुए अमरकांत कहता है, "मुझे तो इन गाँवों में एक भी ऐसा (बड़े) किसान नहीं मिला और महाजन और अमले इन्हीं गरीब किसानों का खून चूसते हैं।" [5]

प्रेमचंद के पात्र राष्ट्रीय सरोकारों से भी उतने ही जुड़े हैं। 'सेवासदन' की भोली 1918 में स्त्री चेतना को स्वर देती नजर आती है। प्रेमचंद पराधीन भारत में लोकतांत्रिक मूल्यों की वकालत करते हैं। 'निर्मला' उपन्यास के जरिए प्रेमचंद ने दहेज एवं बेमेल विवाह की समस्या को उठाते हैं। 'प्रेमाश्रम' के माध्यम से औपनिवेशिक शासन में जमींदार और किसानों के आलोक में व्यापक स्तर पर किसानों के उत्पीड़न को अंकित करते हैं। प्रेमचंद सामाजिक और राष्ट्रीय संघर्ष दोनों को साथ लेकर चलते हैं। प्रेमचंद युग में हिंदी उपन्यास विषय और भाषा दोनों स्तरों पर प्रौढ़ होता हुआ दिखाई देता है।

प्रेमचंद के समकालीन अन्य उपन्यासकार जयशंकर प्रसाद, चंडी प्रसाद शर्मा, वृंदावन लाल वर्मा, शिवपूजन सहाय, विश्वंभर नाथ 'कौशिक', राजा राधिकारमण सिंह, सियाराम शरण गुप्त, पाण्डेय बेचन शर्मा भी जनता और समाज की समस्याओं और संघर्षों पर जोर दे रहे थे। जयशंकर प्रसाद ने 'कंकाल' के जरिए तत्कालीन समाज में धार्मिक स्थानों पर धर्म की आड़ में हो रहे अनाचारों से पर्दा उठाया। विश्वंभरनाथ शर्मा 'भिखारिणी' में रामनाथ और जस्सो की प्रेमकथा के माध्यम से अंतर्जातीय विवाह का प्रश्न उठाते हैं। अपनी जमींदारी खो चुके नंदू नंदराम को कुल पर कलंक लगने की चिंता से दोनों का विवाह स्वीकार नहीं करते नजर आते हैं। पाण्डेय बेचन शर्मा 'बुधुआ की बेटी' में अछूत उद्धार का प्रश्न उठाते हैं। समस्त प्रश्न सामाजिक संघर्षों के बदलते सांस्कृतिक स्वरूप को लक्षित करते हैं, जहाँ भारतीय समाज अपनी परंपरागत सामाजिक रुचियाँ बदलने के लिए प्रयासरत नजर आता है।

हिन्दी उपन्यास अपने विकास में जैनेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी और अज्ञेय की लेखनी से विविधता प्राप्त करता है। यहीं से हिन्दी में मनोविश्लेषणवादी उपन्यासों का लेखन आरंभ होता है। यहाँ पात्रों का अपने मन से संघर्ष वैचारिक उहापोह के रूप में दिखाया गया है। 'त्यागपत्र' सामाजिक समस्याओं के आवरण में लिपटा मृणाल के मानसिक अंतर्द्वंद्व की कहानी को अंकित करता है। आजादी से पहले इलाचंद्र जोशी के उपन्यासों में मानसिक विकार, कुंठाओं, मनोरोगों से शिकार व्यक्तियों की मनोवैज्ञानिक स्थितियाँ हैं, वहीं आजादी के बाद के सामाजिक विषय प्रमुखता से नजर आते हैं। मनोवैज्ञानिक उपन्यासों के तौर पर यह कालखंड बेहद सृजनात्मक रहा, परंतु सामाजिक विषयों का बदलाव स्पष्टता के साथ कोई प्रभाव ग्रहण करते नहीं नजर आता है। गोपाल राय लिखते हैं, "इन उपन्यासों में सामाजिक मूल्यों पर लम्बी-चौडी बहस तो जरूर है, पर किसी जीवंत संसार का निर्माण न हो पाने के कारण यह बहस आरोपित सी हो गई है।" [6]

स्वतन्त्रता के बाद संविधान के जरिए जनता को मौलिक अधिकार देने के साथ छुआछूत को कानूनी अपराध घोषित करते हुए सभी के लिए समान अवसरों का प्रावधान किया गया। सामाजिक जीवन में भी इसी के साथ संवैधानिक मूल्य भी शामिल हो जाते हैं। साठ के दशक के बाद से आज़ादी से मोहभंग का असर हिन्दी उपन्यासों में नजर आता है, जहाँ राजनीतिक चेतना प्रधान उपन्यासों की बाढ़ सी आती है। ऐसे में श्रीलाल शुक्ल, मन्नू भण्डारी, कमलेश्वर, अमृतलाल नागर आदि आजादी के बाद भारतीय जन आकांक्षाओं के अधूरे रहने का प्रश्न राजनीतिक-प्रशासनिक प्रतिबद्धता, शुचिता और भ्रष्टाचार के संदर्भ में उठाते हैं। इसी दौर में आंचलिकता, नगरीकरण और ग्रामीण जीवन के संदर्भ के साथ मध्यम वर्ग के अवसरवादी प्रवृत्ति को लक्षित किया गया जहाँ मानवीय जीवन में प्रवेश कर रही अनदेखेपन की अपसंस्कृति नजर आती है। यहाँ मनुष्य मूल्यों को लेकर द्वंद्व में नजर तो आता है पर जल्दी ही स्वार्थोन्मुख हो जाता है। उषा प्रियम्वदा, रामदरश मिश्र, मोहन राकेश, फणीश्वरनाथ रेणु, शिवप्रसाद सिंह, रांगेय राघव आदि के लेखन में इनका विस्तार नजर आता है।

स्वतन्त्रता के बाद फणीश्वरनाथ रेणु के 'मैला आँचल' से आंचलिक उपन्यासों का लेखन आरंभ होता है। उपन्यास का 'नायक' मेरीगंज बिहार के पूर्णिया से ऊपर उठकर भारतीय ग्रामीण अंचल का प्रतिमान बन जाता है। डॉ. प्रशांत, कमली, कालीचरण, बालदेव, लक्ष्मी आदि भारतीय जीवन संघर्ष को अंकित करते हैं। 'परिकथा' (1957) में लोक व्यवहार से लेकर राजनीतिक-सामाजिक समीकरणों का वर्णन शामिल है। आंचलिक उपन्यासों भारतीय ग्रामीण जीवन के स्थानीय जीवन को केंद्र लेकर आते हैं, जहाँ 'अंचल' विशेष नायकत्त्व का रूप धारण करता नजर आता है।

नागार्जुन 'बलचनमा' (1952) के जरिए किसान के दुःख-दर्द, आशा-निराशा और भूख-प्यास के साथ साहसपूर्ण संघर्ष का वर्णन करते हुए मनुष्य के अधिकारों का हरण करने वाली शोषणकारी व्यवस्था को कठघरे में खड़ा करते हैं। वहीं दूसरी तरफ 'वरूण के बेटे' (1957) में मछुआरा जीवन के संघर्ष, संस्कृति और अभावों के साथ मोहन मांझी के नेतृत्व में मछुआरों द्वारा 'पानी पर अपने अधिकार' के लिए सरकार और जमींदार के साथ उनके संघर्ष को आवाज़ देते हैं। किसानों के संघर्ष और उनके अधिकारों की आवाज बुलंद करने की दृष्टि से भैरव प्रसाद गुप्त द्वारा लिखित 'गंगा मैया' उपन्यास भी उल्लेखनीय है, जहाँ नायक मटरू 'गोदान' के होरी का विकसित रूप बनकर गंगा तट के किसानों की लड़ाई लड़ता है। वहीं शिवप्रसाद सिंह 'अलग-अलग वैतरणी' के द्वारा करैता गाँव की पृष्ठभूमि में 'पंचायतीराज' की हक़ीक़त पाठकों के सामने रखते हैं। श्रीलाल शुक्ल का 'राग दरबारी' (1968) आजादी के बाद भारत के सर्वश्रेष्ठ उपन्यासों में से एक है। इसमें शिवपालगंज का यथार्थ चित्रण होने के साथ आजादी से भारतीय जनता का मोहभंग भी देखने को मिलता है। उपन्यास की शुरुआती पंक्तियाँ "शहर का किनारा। उसे छोड़ते ही भारतीय देहात का महासागर शुरू हो जाता है। वहीं एक ट्रक खड़ा था। उसे देखते ही यकीन हो जाता था, इसका जन्म केवल सड़कों के साथ बलात्कार करने के लिए हुआ है।" [7] व्यवस्था द्वारा भारतीय जन आकांक्षाओं और अधिकारों के हनन को दर्शाती हैं।

नब्बे के दशक तक विमर्श आधारित लेखन स्थापित हो जाता है। यहाँ स्त्री विमर्श, दलित विमर्श, आदिवासी विमर्श में इन समुदायों का संघर्ष प्रमुख रूप से उभरकर आता है। यहाँ आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर, निर्णय लेने की स्वतंत्रता, स्त्री शिक्षा, रोजगार में समान अवसर, कानूनी अधिकारों के साथ सामाजिक पहचानों से मुक्त स्वतंत्र स्त्री व्यक्तित्त्व की वकालत की जाती है। इसके साथ ही देह की स्वतंत्रता का प्रश्न यौनिकता के परिप्रेक्ष्य में उठता है जो इस विमर्श को अतिवाद की तरफ भी ले जाता है। राजेंद्र यादव, कृष्ण सोबती, मैत्रेयी पुष्पा, प्रभा खेतान, नासिरा शर्मा, उषा प्रियम्वदा आदि का लेखन इसे विस्तार देता है। दलित विमर्श शोषण के स्वानुभूति से होते हुए मनुष्य स्तर पर पहचान की वकालत अपनी जाति, रहन-सहन, खान-पान और संस्कृति के साथ करता है। ऐसे में ओम प्रकाश वाल्मीकि, जय प्रकाश कर्दम, सूरजपाल चौहान, मोहनदास नैमिशराय, बिहारीलाल हरित आदि का लेखन इसे समृद्ध करता है।

आर्थिक उदारीकरण ने भारत में आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक हलचलों को गति प्रदान की। इसका असर बीसवीं सदी के अंत तक उपभोक्तावादी संस्कृति, बाजारवाद, पॉपुलर कल्चर के रूप में दिखने लगता है। यह हलचल एक तरफ जहाँ स्त्रियों को उनके अधिकारों से परिचित कराता है तो वहीं दूसरी तरफ आदिवासी समुदाय के जीवन में पूँजीवाद के प्रभाव को लक्षित करता है। संजीव 'सावधान नीचे आग है' में झरिया क्षेत्र की कोयला खदानों के कोयला माफियाओं, ठेकेदारों और उनके दलालों के स्वार्थी, शोषक और क्रूर चेहरे का वर्णन किया गया है। 'धार' में संजीव कोयला माफियाओं और पुलिस के शोषण और अत्याचार के विरुद्ध संघर्षरत आदिवासियों एवं दलितों को आवाज़ देते हैं। मैना नाम की दलित नारी अपने पूरे स्वाभिमान और संघर्ष चेतना के साथ आर्थिक और राजनीतिक गठजोड़ की सत्ता को चुनौती देती नजर आती है।

चंद्रकांता 'ऐलान गली जिंदा है' में कश्मीर की पृष्ठभूमि में कश्मीरी पंडितों पलायन की समस्या और उनके संघर्ष को चित्रित करती हैं। पंकज बिष्ट 'उस चिड़िया का नाम'(1989) द्वारा पहाड़ी स्त्री के दयनीय जीवन, शोषण के साथ जीवन के विषम परिस्थितियों में उसके संघर्ष का मार्मिक वर्णन करते हैं। राजी सेठ का 'तत्-सम' पुनर्विवाह को आधुनिक नारी वसुधा की मनोवैज्ञानिक स्थिति के द्वन्द्वात्मक स्वरूप को यथार्थ के साथ रखता है। नासिरा शर्मा भी 'शाल्मली' के माध्यम से समस्त सवैधानिक अधिकारों के बावजूद आधुनिक भारतीय नारी के मानसिक, पारिवारिक और सामाजिक शोषण का प्रश्न उठाती हैं।

अब्दुल बिस्मिल्लाह का 'झीनी झीनी बीनी चदरिया' हिन्दी उपन्यासों की दुनिया में मुस्लिम समुदाय को वर्ण्य विषय के रूप में दर्शाता है। आगे चलकर असगर वजाहत इस परंपरा को आगे बढ़ाते हैं। 'आओ पेपे घर चलें' के माध्यम से प्रभा खेतान पहली बार हिंदी उपन्यास में अमेरिकी स्त्री के भयावह सच को प्रस्तुत करती हैं, जिसमें नशा, अकेलापन और पीड़ा है। 'छिन्नमस्ता' (1993) की नायिका प्रिया आधुनिक नारी की उस त्रासद स्थिति और संघर्ष का प्रतीक है, जहाँ वह एक रूढ़िवादी समाज से टकराते हुए अपने अस्तित्व को व्यक्ति के रूप में नई पहचान देने की कोशिश करती है। कृष्णा सोबती, मैत्रयी पुष्पा, चित्रा मुद्गल, ममता कालिया सहित कई श्रेष्ठ महिला उपन्यासकार हिन्दी उपन्यास में स्त्री संघर्ष को आवाज़ देती नजर आती हैं।

बीसवीं सदी से आगे बढ़ाते हुए इक्कीसवीं सदी का लेखन सामाजिक-सांस्कृतिक संघर्ष के नए रूपों से परिचित कराता है जहाँ समस्याएँ आगे बढ़ते हुए समाज के बीच उनके घर में पहुँच गई हैं, जिसमें सूचना क्रांति का बड़ा योगदान है। समस्या यही है कि सूचना क्रांति के होते हुए भी मनुष्य पूर्वाग्रही रहा और घटनाओं की वस्तुस्थिति जाने बिना अपनी प्रतिक्रियाएँ देने लगता है, जो समस्याओं को और संकटपूर्ण बना देता है। मसलन प्रतिक्रियात्मक वक्तव्य से किसी समुदाय विशेष की भावना को ठेंस पहुँचती है तो पहुँचे। संघर्ष में पड़े समुदाय के लिए आवाज़ न उठाने की संस्कृति बढ़ी और संघर्ष में साथ देने वालों को आपराधिक प्रवृत्तियों से जोड़ देने की सत्ताई पहल सांस्कृतिक विकास की दिशा पर सवाल खड़ा करती है।

'एक ब्रेक के बाद' में अलका सरावगी बाजार व अर्थ आधारित विकासयुक्त सामाजिक रवैये को लक्षित करते हुए लिखती हैं, "के.वी. इन दिनों ग्लोबल हवा में उड़ रहे हैं। आज के दिन ही सिटी ऑफ लन्दन में तीस मिलियन डॉलर का कार्बन व्यापार हो रहा है। आनेवाले समय में तो चांदी ही चांदी होनी ही होनी है। अब हम दुनिया की सबसे बड़ी इंडस्ट्री या मार्केट बनने वाले है, ऐसी पक्की खबर है के.वी. के पास। इंडिया में ही छोटे-छोटे शहरों में एयरपोर्ट बन रहे हैं और रोज नई एयर लाइने खुल रही है।" [8] इस प्रक्रिया में अगर कुछ पीछे छूट रहा है तो वह है मानवीय मूल्य। इसी को प्राप्त करने का द्वन्द्वात्मक संघर्ष वर्णित है।

इक्कीसवीं सदी में आदिवासी और थर्ड जेंडर विमर्श अधिक विस्तार पाते हैं। यहाँ केवल अधिकारों की बात ही नहीं होती बल्कि मानव मात्र के तौर पर सामाजिक व्यवहार और दृष्टिकोण की बात की जाती है। 'पोस्ट बॉक्स नं.-203 नाला सोपारा' और 'यमदीप' उपन्यासों के माध्यम से यही बात राखी गई है। बिमली और नंदरानी का संघर्ष मनुष्य मात्र के तौर पर उनकी पहचान की लड़ाई को दर्शाता है। इन दोनों उपन्यासों के साथ 'भामती' और 'पंचकन्या' उपन्यासों के बरक्स यह बात उभरकर आती है कि जहाँ स्त्री विमर्श, स्त्री मुक्ति और पहचान के लिए समाज की चिंता करना छोड़ दिया है वहीं थर्ड जेंडर के लिए अभी भी सामाजिक स्वीकृति की लड़ाई चल रही है या यूँ कहें कि सामाजिक परिप्रेक्ष्य में उनके अस्तित्त्व की वकालत की जा रही है।

रणेन्द्र 'गायब होता देश' और 'ग्लोबल गाँव के देवता' उपन्यासों के माध्यम से आदिवासी समुदाय की समस्याओं को पाठकों के सामने रखने के साथ पूंजीवादी शक्तियों के प्रभुत्त्व और सत्ताई मिलीभगत का यथार्थ प्रस्तुत करते हैं। नीलेश रघुवंशी 'एक कस्बे के नोट्स' के माध्यम से परिस्थितियों को केंद्र में रखकर संघर्ष के नए स्वरूप के साथ नई आत्मकथ्य शैली में औपन्यासिक संरचना को रूबरू कराती हैं। 'मुन्नी मोबाइल' में प्रदीप सौरभ वैश्वीकरण के परिप्रेक्ष्य में सुधा पांडेय के माध्यम से उसकी स्थानीयता बोध के साथ सांस्कृतिक विकास की जड़ को दर्शाते हैं, "यही मेरा कलकत्ता है। मेरे जीवन की आधारशिला। जीवन की पहली याद... पढ़ाई का ककहरा... होली का रंग दीवाली की रोशनी... सब कुछ तो कलकत्ता से जुड़ा है।" [9] प्रदीप सौरभ इक्कीसवीं सदी के उपन्यास जगत में लेखन शैली के साथ विषय के वैविध्य के योगदान के लिए जाने जाते हैं। कृष्णा सोबती 'गुजरात पाकिस्तान से गुजरात हिंदुस्तान' के द्वारा 'आज़ादी' शब्द के मायने को जाति-धर्म, क्षेत्र आदि से ऊपर उठकर सबसे बड़े मानवीय मूल्यों में रखते हुए सांस्कृतिक विकास की संघर्षमय यात्रा को सामने रखती हैं। संजीव 'फाँस' के माध्यम से प्रेमचंद की परंपरा को बढ़ाते हुए किसानों के जीवन को आज के आर्थिक संदर्भों में प्रस्तुत करते हैं और कृषक आत्महत्या को खुले रूप से दर्शाकर समाज और सरकार का ध्यान खींचते हैं।

हिन्दी उपन्यास समय के बदलाव को पहचानता गया और उसके अनुसार ही उपन्यासों का वर्ण्य विषय भी बदलता गया। नैतिकता और आदर्श के नन्हें कदमों के साथ चलते हुए हिन्दी उपन्यास किसान, सामाजिक, औपनिवेशिक, मनोवैज्ञानिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक समस्याओं का विस्तृत फ़लक पाता है। इस दौर में व्यक्ति और समाज का संघर्ष अपने आप, आर्थिक एवं राजनीतिक सत्ता से भी होता है। इक्कीसवीं सदी के आगमन के साथ पूंजीवादी शक्तियों से व्यक्ति और समाज का संघर्ष नजर आता है। बाज़ार और उपभोक्तावादी संस्कृति के दबाव में व्यक्ति अपनी संस्कृति के मूल जड़ों से दूर होता गया और बाज़ार का शिकार होता गया। हिन्दी उपन्यासों ने इन बदलावों को बखूबी दर्शाया है।

संदर्भ सूची:

1. मधुरेश (2016). हिन्दी उपन्यास का विकास, सुमित प्रकाशन, इलाहाबाद. पृ.-13
2. राय, गोपाल (2020). हिन्दी उपन्यास का इतिहास, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली. पृ.- 64
3. वही, पृ.- 65
4. पाण्डेय, मैनेजर (2018). उपन्यास और लोकतन्त्र, वाणी प्रकाशन, दिल्ली. पृ.-137
5. प्रेमचंद (2005). कर्मभूमि, भूमिका प्रकाशन, जयपुर. पृ.- 16
6. राय, गोपाल (2020). हिन्दी उपन्यास का इतिहास, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली. पृ.- 199
7. शुल्क, श्रीलाल (2014). रागदरबारी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली. पृ.- 7
8. सरावगी, अलका (2008). एक ब्रेक के बाद, दरियागंज, राजकमल प्रकाशन. पृष्ठ- 152
9. सौरभ, प्रदीप (2009). मुन्नी मोबाइल, वाणी प्रकाशन. पृष्ठ-136